



ओशो एक नितांत झूठी पर बहुत सच्ची कहानी कहते हैं; 'दूसरा विश्वयुद्ध लड़ा जा चुका था और उसके तमाम हीरो मर-खप कर ऊपर पहुंच चुके थे। ऊपर भगवान को भी इनके स्वागत में एक रिसेप्शन पार्टी देनी पड़ी और पार्टी के अंत में भगवान ने एक अमेरिकन, एक रशियन और एक अंग्रेज को ऊपर अपने पास मंच पर बुला कर एक-एक वरदान मांगने के लिए कहा। अमेरिकन ने मांगा कि 'दुनिया के नक्शे पर से सोवियत रूस का नाम मिटा दे, हे भगवान्!' रूसी क्यों पीछे रहने लगा। तपाक-से बोला, 'कामरेड भगवान्, पहले तो आप हैं—हमें इस बात में भी यकीन नहीं है। फिर भी अभी जब आप सामने हैं और कुछ देना ही चाह रहे हैं, तो बस, बिना एक क्षण की देरी किये समुंदर की सीमाएं तोड़ दो और सारा-का-सारा अमेरिका बहा दो।'

भगवान् अंग्रेज की तरफ मुखातिब हुए तो वह कुटिल व्यापारिक मुस्कान के साथ बोला, 'मुझे अलग से कुछ नहीं चाहिए। आप कृपा कर तुरंत ही इन दोनों की मनोकामनाएं एक साथ ही पूरी कर दीजिए।'

लोग परस्पर विनाश में इतना ज्यादा उत्सुक हैं कि उन्हें अपने विकास की कोई चिंता ही नहीं है। एक टोटल नेगेटिविटी सारी दुनिया में व्याप्त है और पॉजीटिव सोच की कहीं कोई गुंजाइश ही दिखाई नहीं दे रही है।

ओशो इसे सामूहिक विक्षिप्तता कहते हैं और बताते हैं कि मनुष्य ने इस पृथ्वी ग्रह पर पिछले तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध लड़े हैं और अभी भी हर समय, हर कहीं, हर बात पर लड़ाई के लिए आमदा है। दुनिया के मसलों से जी ऊबता है, तो दीन के उठा लेता है। जमीन के मसले पुराने लगते हैं तो आसमान के खोज लाता है।

ओशो कहते हैं कि मनुष्य शांति के नाम पर भी युद्ध लड़ता रहा है। मनुष्य ने वास्तविक शांति तो कभी जानी ही नहीं। पृथ्वी पर बस दो ही कालखंड जाने जाते रहे हैं — एक तो युद्धकाल और दूसरा

अहिंसक समाज-रचना के ओशो-सूत्र

युद्ध की तैयारी का काल। मनुष्य दोनों ही कालखंडों में गौण रहा है। यह विक्षिप्तता नहीं तो और क्या है? क्या मनुष्य लड़ने के लिए ही जी रहा है? विज्ञान ने जरूर इस रोग को उस चरम स्थिति तक पहुंचा दिया है जहां रोगी ही नहीं बचेगा। यदि बचना है तो रोग को ही पूरी तरह से छोड़ना होगा, चाहे रोग कितना ही पुराना और प्यारा क्यों न हो। रोग भी पुराने होने से प्यारे हो जाते हैं और परंपरागत होने से उन्हें भी एक आवृत स्थान प्राप्त हो जाता है। किसी भी चीज का पुराना होना उसके बने रहने के लिए दलील बन जाता है। और युद्ध की बीमारी तो आदिमकाल से चली आ रही सबसे पुरानी बीमारी है। इसकी जड़ें संस्कृति में जा धंसी हैं। मनुष्य अपने बाज युद्धों पर आज भी गर्व किये चला जा रहा है और उनकी जयंतियां मना रहा है।

ओशो इस वैश्विक पागलपन के खिलाफ समूची मनुष्य जाति को अगाह करते हैं और नये मनुष्य की अवधारणा में रंग भरने के लिए ध्यान और प्रेम का मार्ग सुझाते हैं। वे कहते हैं कि ध्यान और प्रेम दो पंख हैं जिनके सहारे मनुष्य परमात्मा तक पहुंच सकता है। मनुष्य में जो शुभ है वह प्रभु है। जो सुंदर है वह स्वर्ग है। जो अशुभ है वह नर्क है। मनुष्य जैसा स्वयं को बना लेता है, वैसी ही दुनिया भी बना लेना चाहता है। अतः उनके अनुसार यह जान लेना नितांत आवश्यक है कि यह जो कुरूप जगत् है, हिंसा, क्रोध, घृणा और युद्ध का जो तांडव चल रहा है, इसमें प्रत्येक व्यक्ति साझीदार है। इसका उत्तरदायित्व प्रत्येक पर है। बड़े से बड़े युद्ध के लिए छोटे से छोटा व्यक्ति भी उत्तरदायी है। क्योंकि व्यक्ति ही तो फैल कर समाज बन जाता है। समाज और है कहां? व्यक्ति ही समाज का मूल है और व्यक्ति है महत्त्वाकांक्षा के ज्वर से ग्रस्त। प्रत्येक कुछ होना चाहता है और इस कुछ होने की धुन में वह उसे ही भूल जाता है जो कि वह है। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति बस, वही तो हो सकता है, जो वस्तुतः वह है। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होना असंभव है। क्योंकि

इसलिए मैं कहता हूँ कि
महत्त्वाकांक्षा के आधार
पर खड़ा जगत् कभी भी
अहिंसक नहीं हो सकता।
फिर वह महत्त्वाकांक्षा
संसार की हो या संसार
के पार की। जहां भी
कहीं महत्त्वाकांक्षा है,
वहां हिंसा है। वस्तुतः तो
महत्त्वाकांक्षा ही हिंसा है

जो बीज में ही नहीं है, वह भला वृक्ष में कैसे हो सकता है? त्रासदी किन्तु यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर वह होने की लालसा पाले हुए है, जो वह नहीं है और न हो सकता है। इससे एक ज्वरग्रस्त जीवन पैदा होता है, जो कि अनिवार्यतः हिंसा और विध्वंस में ले जाता है।

व्यक्ति जो बीजतः होता है उसके विकास में न तो दौड़ होती है और न ज्वरजन्य विक्षिप्तता। उसमें तो एक शांत और मौन अदृश्य विकास होता है। उसमें जो सहज-स्वाभाविक गति होती है, उसकी तो पगध्वनियां भी सुनाई नहीं देतीं। वहां तो बस, एक निर्मल शांति-भर होती है। उसका अपना स्वरूप ही अपने ढंग से विकसित हो रहा होता है। लेकिन व्यक्ति जो नहीं होता और होने की कोशिश करता है, तब बड़ा शोरगुल होता है। उसे स्वयं ही करना होता है। बिना शोरगुल किए वह दूसरों को क्या, स्वयं को भी धोखा नहीं दे पाता, और धोखा तो यह है ही, क्योंकि वह वह होना चाहता है जो मूलतः वह नहीं है। वह एक झूठी प्रतिस्पर्धा में पड़ा होता है जबकि व्यक्ति जो है, वही होने में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती। वह होता है, बस, अपने में, किसी अन्य की तुलना में नहीं। उसकी शक्ति का

निरर्थक क्षरण रुक जाता है और वह केंद्रित शक्ति का एक निर्मल सरोवर बन जाता है, जहां शांति और प्रेम के सुवासित फूल खिलते हैं।

ओशो कहते हैं कि शक्ति और ऊर्जा का यह शांति संघय जीवन को एक ऐसा गत्यात्मक रूप देता है जिसमें गति तो पूर्ण होती है, संघर्षण किन्तु शून्य होता है। लेकिन जहां व्यक्ति किसी और की तुलना में जीता है, वहां वह स्वयं अपने स्वाभाविक जीवन से ही वंचित हुआ जी रहा होता है। दरअसल, वह अपना जीवन तो जी ही नहीं रहा होता। और मनुष्य न जाने कब से ऐसा ही ज्वर और तनावभरा शोरगुलपूर्ण जीवन जीने को विवश है। ओशो इस व्यर्थ की विवशता से ध्यान और प्रेमपूर्णक मुक्त होने को कहते हैं।

वे कहते हैं 'जीवन तो है स्वयं में, वह अन्य में नहीं है। अन्य की तुलना में है ईर्ष्या, क्रोध और हिंसा और इनमें जीवन ही नहीं है, ये मूलतः मृत्युएं हैं। इन मृत्युओं से व्यक्ति जी रहा होता तो आज जगत् जैसा कुरूप हो गया है, उसका वैसा होना अनिवार्य ही है। और अब सब भांति की महत्त्वाकांक्षाओं और प्रतिस्पर्धाओं में जीने के बाद भी आनंद के द्वार नहीं खुलते हैं और दुखों का नरक गहरा और गहरा होता जाता है, तो व्यक्ति इस विफलता और विषाद में सारे जगत् से ही प्रतिशोध लेने लगता है। वह विध्वंसक हो जाता है, वह, जो स्वयं को सृजित नहीं कर पाया है, उसके प्रतिशोध में अन्यो का विध्वंस करने लगता है, उसके प्रतिशोध में अन्यो का विध्वंस होने लगता है। आत्म-सृजन का अभाव विध्वंस और हिंसा बन जाता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि महत्त्वाकांक्षा के आधार पर खड़ा जगत् कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। फिर वह महत्त्वाकांक्षा संसार की हो या संसार के पार की। जहां भी कहीं महत्त्वाकांक्षा है, वहां हिंसा है। वस्तुतः तो महत्त्वाकांक्षा ही हिंसा है। और विज्ञान ने महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के हाथों में असीम शक्ति दे दी है। अब यदि धर्म ने मनुष्य के चित्त से महत्त्वाकांक्षा नहीं छीनी तो, विनाश निश्चित है।'

— राजेन्द्र अनुरागी

